5

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासः सांस्कृतिक चेतना के आयाम

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

की

पी-एच0डी0 (हिन्दी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की

सारांशिका



निर्देशक

डॉ0 सन्तराम वैश्य 24/9/08

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

डीन, मानविकी संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार

शोधकर्त्री

सुमन राय

सुमन राय

24-9.08

हिन्दी विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

2008

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासः सांस्कृतिक चेतना के आयाम

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

की

पी–एच0डी0 (हिन्दी) उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध की

सारांशिका



निर्देशक

डॉ0 सन्तराम वैश्य 24/9/08 सुमन राय

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
डीन, मानविकी संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

24-9.08

शोधकर्त्री

सुमन राय

हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

2008



शोध सारांशिका

संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समृष्टि हैं। मनुष्य की समस्त कृतियों, प्रवृत्तियों, ज्ञान–विज्ञान, आचार–व्यवहार सबका मूल उत्स संस्कृति है उसे सामाजिक प्राणी होने के नाते अपनी परम्परा से निरन्तर विकासशील स्वरूप में प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि मानव जाति का वर्ग–विशेष अपने निरन्तर विकसित स्वरूप से मानवीय अच्छाइयों को एकत्रित करता जाता है और शनै–शनैः ये अच्छाइयाँ या गुण एक मूल्य के रूप में उस वर्ग विशेष मं स्थायित्व प्राप्त कर लेते हैं। ये मूल्य विशेष ही उस वर्ग विशेष की आत्मा बनते हैं। जब तक कार्य विशेष उन मूल्यों का अनुकरण करता रहता है तब तक उसकी संस्कृति सुरक्षित रहती है। अन्य संस्कृतियों से घालमेल हाने पर कभी–कभी एक वर्ग विशेष के कतिपय मूल्य गौण हो बन जाते है और नवीन मूल्यों का सृजन हो जाता हैं तात्पर्य यह है कि संस्कृति स्थिर तत्व नहीं है, अपितु प्रवाहमान तत्व है जो जीवन की युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप बनता बिगड़ता रहता है। किन्तु इस प्रक्रिया में वह अपने शाश्वत् और स्थायी मूल्यों को त्यागता नहीं। क्योंकि छोड़ने की प्रक्रिया में संस्कृति ह्रासमान हो जाती है। संस्कृति और सभ्यता में आधाराधेय भाव सम्बंध है। संस्कृति और सभ्यता मानवीय गुणों की विकास की प्रक्रियाएं है। यदि संस्कृति अतः प्रतिक्रिया है तो सभ्यता उसका शिखर। संस्कृति का सम्बंध भावना से भी होता है इसीलिए संस्कृति–वह सूक्ष्म भावात्मक तत्व स्वीकार किया जाता है जो हृदय की प्रेरणा से बाह्य आचारों में प्रस्फुटित होकर भी सूक्ष्मता के अधिक निकट रहता है। भावात्मक से सीधा सा तात्पर्य हृदय की उस प्रेरणा से है जो व्यक्ति, जाति, राष्ट्र को एक दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व का बोध कराती है। यही कारण है कि संस्कृति को दूरद्रष्टा और सभ्यता को निकटद्रष्टा माना जाता है। वस्तुतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिकता का बोध और सामाजिकता के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह कराने का समूचा दायित्व संस्कृति का है। इसीलिए किसी जाति या समाज की सस्कृति की कसौटी वहाँ के मनुष्यों का चरित्रबल होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति समाज सापेक्ष होती है। व्यक्ति का अस्तित्व भी समाज में निहित होता है। यही नहीं किसी देश, जाति या समाज के मनुष्यों के चरित्रबल की कसौटी भी संस्कृति है। तात्पर्य यह कि संस्कृति नहीं तो जीवन नहीं। इसीलिए सन् 1857 में स्वाधीनता संग्राम के उपरान्त भारतीय साहित्य के क्षितिज में अवतरित नक्षत्र जैसे प्रखर बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतीय सांस्कृतिक ह्रास की प्रतीतिकर स्वाधीनता की लड़ाई के लिए सर्वप्रथम भारतीयों के सांस्कृतिक उत्थान की आवश्यकता का अनुभव किया और सांस्कृतिक उत्थान की लड़ाई छेड़ दी। यही कार्य कभी गोस्वामी तुलसीदास ने किया था और कभी कबीर ने। वस्तुतः दासता से मुक्ति का पहला मूलमंत्र होता है संस्कृति का उत्थान और उसके माध्यम से जन–साधारण में नव जीवन का संचार। प्रसाद, निराला के काव्यों और गद्यात्मक रचनाओं में भी इसकी अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। सांस्कृतिक उत्थान की यह प्रक्रिया प्रत्येक युग में होती रही है; चाहे वह धार्मिक आन्दोलन रहे हो, चाहे सामाजिक, चाहे साहित्यिक, आन्दोलन अथवा राजनीतिक आन्दोलन वस्तुतः इन आन्दोलनों के कर्णधार यह अनुभव करते रहे है कि मनुष्य के उत्थान और उसके प्रत्येक कष्ट से मुक्ति का एक मात्र माध्यम है सांस्कृतिक चेतना की जागृति। सांस्कृतिक चेतना की जागति का तात्पर्य मनुष्य में स्वाभिमान की भावना को अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित करना है। दूसरे शब्दों में स्वाभिमान को सांस्कृतिक चेतना ही सबल बनाती है।

संस्कृति वर्तमान में जन्म नहीं लेती। वह अतीत से सम्बल ग्रहण करती रहती है। दूसरे शब्दों में अतीत का जो कुछ अच्छा है वह संस्कृति हैं इसीलिए आन्दोलनों के अग्रणी नेता अपना एक कदम अतीत में रखते है तो दूसरा वर्तमान में और उनके नेत्र भविष्य के गर्भ की सूक्ष्म जाँच परख में संलग्न रहते है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सांस्कृतिक उत्थान के अग्रगण्य अतीत की गहराइयों में गोते लगाते

दिखायी देते है और उनका जो दूसरा पक्ष होता है वह युगीन सभ्यता के साथ सामंजस्य स्थापित करने में संलग्न रहता है।

साहित्यकार वही कार्य करता है जो एक धार्मिक नेता अपने धार्मिक प्रवचनों, अनुभवों या रचनाओं द्वारा करता है। साहित्यकारयुगीन और भावी राजनीति को भी दिशा देता है। वह सामाजिक आन्दोलनों को भी दिशा और सम्बल देता है। उसका संकल्प होता है अतीत के बहाने वर्तमान को मधुर और स्वर्णिम बनाना। उसका संकल्प होता है मानवीयता के पथ से विचलित मनुष्य को मानवीयता के मार्ग पर चलाना। दूसरे शब्दों में साहित्यकार का दायित्व होता है सबको नियमित और नियंत्रित करना। भले ही इसके लिए उसे मानवता के विकास के प्रथम चरण से सामग्री संकलित करना पड़े तात्पर्य यह है कि साहित्यकार समाज का जागरुक, सचेत द्रष्टा और निर्माता होता है। साहित्यकार की अपने दायित्व के प्रति विमुखता ही उसकी असफलता का कारण बनती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के ऐसे सजग और मूर्धन्य साहित्यकार हैं जिन्हें संस्कृति विरासत में मिली थी। जिनके प्रत्येक रक्तकण में संस्कृति व्याप्त थी। जो समाज के पुर्ननिर्माण का संकल्प लेकर आये थे। इसीलिए इनका साहित्य संस्कृति के रक्षक का पर्याय बन गया है। द्विवेदी जी ने व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की संस्कृति के पुर्ननिर्माण या पुनरुद्धार का प्रयास किया है। उनका बाणभट्ट, सातवाहन, आचार्य देवरात, आचार्य पुरगोभिल, रैक्व, सुमेर काका, मामा संस्कृति के संवाहक ही नहीं रक्षक भी है। भट्टिनी, निपुणिका, मैना, चारुचन्द्रलेख माता ऋतम्भरा, भगवती विष्णुप्रिया, मृणालमंजरी आदि नारी चरित्र भारतीय संस्कृति के चरम आदर्श हैं।

आचार्य द्विवेदी धर्म, दर्शन, ज्योतिष, साहित्य समाज और कला को स्तम्भ स्वीकार किया है। वस्तुतः ये सभी मानव जीवन और मानव समाज से सीधे जुड़े हुए हैं। आचार्य द्विवेदी उस धर्म को संस्कृति का आधार नहीं स्वीकार करते जो व्यक्ति–विशेष, जाति–विशेष या राष्ट्र–विशेष के लिए हो; अपितृ वे उस विश्वधर्म को संस्कृति का आधार मानते है जो समस्त मानवता के हित साधन में समस्त मानतवता के उन्नयन उत्कर्ष में साधक हो, जो समस्त मानवता को विश्व बन्धुत्व की भावना से एक सूत्र में पिरों सकें। जिसमें ईर्ष्या, द्वेष को स्थान न हो, जिसमें साम्प्रदायिक द्वेष न हो, जिसमें भौतिकता मात्र आकर्षण न हो।

द्विवेदी जी ने भारत के धार्मिक आन्दोलनों का गहन अध्ययन किया था और उससे प्रभावित भी हुए थे। उनके उपन्यास में धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति अत्यंत सशक्त और स्पष्ट रूप में हुई है। उनकी दृष्टि में सभी धर्म परायणता की वास्तविक कसौटी है। धर्माचरण का सम्बंध हृदय से है। हृदय की पवित्रतता के लिए संयम, त्याग और वैराग्य आवश्यक है। वैराग्य वह नहीं जो मनुष्य की सामाजिक जिम्मेदारियों से संयास लेने को कहे अपितु वह जो लोभ, मोह, स्वार्थ जैसी मनोवृत्तियों से मनुष्य को दूर रखे। द्विवदी जी के उपन्यास के पात्र इन गुणों से परिपूर्ण है।

सत्य की उपासना ही वास्तविक धर्म है। द्विवेदी जी दृश्य सत्य को सत्य नही मानते। उनकी दृष्टि में सत्य वही है जिससे सम्पूर्ण प्राणी मात्र का आत्यंतिक कल्याण हो। निपुणिका के जीवन का सत्य वास्तविक सत्य था। राजा के प्रति प्रजा के धर्म और प्रजा के प्रति राजा के धर्म की अभिव्यक्ति द्विवेदी जी के उपन्यासों का काम्य है। उनकी दृष्टि में राजा का धर्म राज्य सुख भोगना नहीं अपितु दीन–दुखियों और दलितों की रक्षा करना हैं प्रजा को अपनी सन्तान के समान प्रेम करना तथा उसके सुख–दुख का ध्यान रखना। "अनामदास का पोथा" में जबावा अपने पिता राजा जाश्रुति को अपने धर्म के प्रति जागृत करती है।

आचार्य द्विवेदी धर्म के आन्तरिक तत्वों को शाश्वत् मानते थे; लेकिन धर्म के व्यावहारिक रूप में गतिशीलता के पक्षधर थे। वस्तुतः वे धर्म के प्रवाहमानत्ता के पोषक हैं। युगानुरूप धार्मिक मान्यताओं, व्यवहारों में परिवर्तन की ध्वनि उनके उपन्यासों में सुनाई देती है। उनकी दृष्टि में धर्म एक सजीव गतिशील व्यवस्था है, जो समयानुसार बदलती रहती है। परिर्वतन मानव जीवन के विकास को एक प्रतिक्रिया है तभी तो वे आधुनिक समाज के विश्वास मे बाधक प्राचीन मान्यताओं और व्यवहारों को त्योगने और नवीन मूल्यों के सृजन की अभिव्यक्ति अपने साहित्य में करते है। यही कारण है उन्होंने जप–तप, ध्यान–धारण, पूजा पाठ आदि प्राचीन परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं और व्यवहारों के स्थान पर दुःखी जनों की सेवा करना ही मनुष्य का सच्चा धर्म माना है। द्विवेदी जी के इन विचारों की अभिव्यक्ति 'पुनर्नवा में पुरगोभिल के इस कथन से हो जाता है– ''यदि निरन्तर व्यवस्थाओं का संस्कार और परिमार्जन नहीं होता रहेगा तो एक दिन व्यवस्थायें तो टूटेगी ही साथ ही धर्म को भी तोड़ देगी।'' वैदिक धर्म की व्यवहारिक मान्यताये कुछ और थीं। बौद्ध धर्म की कुछ और जैन धर्म की कुछ और। आधुनिक मानवता की नींव पर खड़े धर्म की व्यवहारिक मान्यताये सभी धर्मो से भिन्न है।

धर्म की व्यवहारिक मान्यताओं में विभिन्नता मानते हुए आचार्य द्विवेदी जीधर्म के आन्तरिक तत्वों को सभी धर्मों में एक और अभिन्न मानते थे। यही उनकी वह धार्मिक चेतना है जहाँ सभी धर्म एक हो जाते हैं। उनकी दृष्टि बौद्धिकता और आध्यात्म के मध्य समन्वय स्थापित कर मानवतावादी विश्व संस्कृति के निर्माण का स्वप्न देखती है। उनके उपन्यासों का उद्देश्य खण्ड सत्य से परमसत्य का सामंजस्य स्थापित कर एक विशेष धर्म के निर्माता के रूप में उपस्थित होते हैं।

आचार्य द्विवेदी धर्म को संस्कृति के समाज अविरोधी वस्तु मानते थे। सच कहा जाय तो द्विवेदी जी की सांस्कृतिक अवधारणा का मूलाधार धर्म ही है। उन्होंने धर्म को संस्कृति स्वरूप अभिव्यक्ति दी है। उनकी दृष्टि में धर्म और संस्कृति के शाश्वत् मूल्य एक ही है।

विविध चिन्तन धारायें जब क्रमबद्ध युक्ति तर्क का आश्रय लेती है तो दर्शन कहलाती है। प्रत्येक आचरण के पीछे एक स्पष्ट चिन्तनधारा रहती है। इस प्रकार आचरण का बौद्धिक रूप दर्शन तथा व्यवहारिक रूप धर्म कहलाता है। वस्तुतः जीवन के सतकर्म दर्शन से ही नियंत्रित होते हैं जो हमें धार्मिक बनाते हैं। द्विवेदी जी ने संस्कृत ग्रथों के साथ–साथ भारत की विविध दार्शनिक विचारधाराओं का भी अध्ययन किया था। परन्तु मुख्य रूप से टैगोर के जीवन दर्शन से अधिक प्रभावित दिखायी देते हैं। उनकी दृष्टि में सभी दर्शन का एक मात्र लक्ष्य है मानव की शाश्वत् शान्ति और मुक्ति । सभी दर्शन अपने–अपने रास्ते चलकर इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। द्विवेदी जी संयम, त्याग, सहानुभूति, सहयोग और प्रेम में ही इस शान्ति और मुक्ति की कामना करते थे। जो उनके सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य विषय है।

आचार्य द्विवेदी के अनुसार मनुष्य के भीतर मनुष्यता की ज्योति को अविरल जलाये रखना और अपने भीतर के मानवीय मूल्यों का सतत् विकास करते रहना साहित्य का एकमात्र उद्देश्य है। मानवता का अभ्युदय और निश्रेयस ने संस्कृति की भी चरम उपलब्धि मानते थें जो उनकी साहित्यिक और सामाजिक चेतना का मूल स्रोत है।

आचार्य द्विवेदी पेशे से अध्यापक थे। उनका सम्पूर्ण जीवन अध्ययन अध्यापन में बीता। अतः एक अध्यापक का संस्कृति के प्रति अगाध अनुराग एवं समाज को सुधारने की दृष्टि उनकी साहित्यिक चेतना का महत्वपूर्ण कारक है। आवारा लम्पट बाणभट्ट का उत्कर्ष एक नारी त्राणकर्ता, आदर्श व्यक्त और देश सेवक के रूप में होता है। ताम्बूल विक्रेता तथा रसिकों की केन्द्र बिन्दु, नीच कही जाने वाली निपुणिका का उत्कर्ष द्विवेदी जी ''बाणभट्ट की आत्मकथा में एक आदर्श नारी के रूप में दिखाते हैं। कुलटा और

समाज की घृणित तथा चरित्रहीन समझी जाने वाली नारी चन्द्रा का उत्कर्ष एक आदर्श नारी और पवित्र प्रेम की मूर्ति के रूप में होता है। एक साधारण कृषक बालिका का उत्कर्ष द्विवेदी जी समाज की प्रेरणा स्रोत के रूप में दिखाते हैं। नट जाति की एक साधारण बालिका मैना का उत्कर्ष एक वीरांगना और देशभक्त के रूप में होता है। मामा भारतीय संस्कृति के जीते जागते रूप हैं। जिनके त्याग और तपस्या की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। सुमेर काका अनपढ़ और साधारण कृषक हाने पर भी राजनीतिक प्रश्नों के समाधान कर्ता और नारी के सबल रक्षक बनते हैं।

द्विवेदी जी दार्शनिक विचारों में युगानुरूप परिवर्तन और परिष्करण की आवश्यकता पर जोर देते हैं। धर्म के साथ–साथ विचारों में भी युगीन आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक युग का दर्शन पृथक–पृथक चिन्तन और विचारों से समृद्ध होता है। वैदिक दर्शन कुछ और था, मध्ययुगीन दार्शनिक विचार उससे भिन्न थे और औद्योगिक एवं वैज्ञानिक सभ्यता पर प्रतिष्ठित आधुनिक युग का दर्शन दोनों युगों के दार्शनिक विचारों से अपना अलग ही अस्तित्व रखता है। इस प्रकार द्विवेदी जी धर्म और दर्शन को संस्कृति के उपजीव्य के रुप में स्वीकार करते हैं। चूँकि सह आचरण का नियंत्रा दर्शन होता है। सतकर्मो पर ही संस्कृति स्वरूप स्थिर होता है। अतः स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी जी दर्शन संस्कृति स्वरूप या संस्कृति को मुख्य कारक या तत्व मानते थे धर्म और दर्शन वे सूक्ष्म तत्व है जो संस्कृति को स्वरूप प्रदान करते हैं तथा उसे पुनः–पुनः नूतन और प्रासंगिक बनाया करते हैं। सत्य तो यह है कि धर्म दर्शन संस्कृति मानव जीवन के विकास की त्रिधारायें हैं एक ही प्रयोजन है– मानवता की रक्षा।

भारतीय साहित्य का प्राचीन वाङ्मय ऐसी साधनाओं और तपस्याओं से भरा पड़ा है जिसमें मानवता के कल्याण को निरन्तर प्रयासरत रहने का भाव है चाहे वह उपनिषद ग्रंथ हो चाहे गोरखपंथी साहित्य अथवा कबीर सूर, तुलसी का साहित्य हो, सभी मानवता के उत्प्रेरक काव्य है। आचार्य द्विवेदी ने इस साहित्यों का गहन अध्ययन किया था और इनसे प्रेरणा लेकर ऐसे साहित्य का सृजन किया जो व्यापक मानवीयता के धरातल से अपना सम्बंध जोड़ता है। आचार्य जी साहित्य को कल्पना विलासी न मानकर धर्म त्याग और तपस्या से उपार्जित महती साधना मानते थे। इतिहास, धर्मशास्त्र, नाट्यशास्त्र और औपनिषद तत्वों से संयुक्त उपन्यास हिन्दी साहित्य में अपना पृथक अस्तित्व रखते हैं।

साहित्य कलाओं में, सर्वश्रेष्ठ कला है। आचार्य द्विवेदी कला के लिए वाली उक्ति को स्वीकार नही करते। कला जीवन के सापेक्ष होती है। जीवन के लिए कला साधन है। साध्य नहीं। साहित्य समाज की पूँजी है। वह चाहे कला के रूप में स्वीकृत किया जाय या लिखित सामग्री के रूप में।

आचार्य द्विवेदी ज्योतिष को भी मानव के आत्मिक उन्नय का एक प्रमुख कारक मानते थे। यही कारण है कि अनेक उपन्यासों के पात्र ज्योतिष और भाग्य पर अधिक विश्वास रखते है। ज्योतिष और भाग्य का घनिष्ठ सम्बंध है। सामान्य भारतीय धारणा के अनुसार प्रत्येक मनुष्य का भाग्य जन्म के पूर्व ही निश्चित हो जाता है। प्रश्न उठता है यदि सम्पूर्ण मानव समाज भाग्य के सहारे ही रहे तो समाज में अकर्मण्यता और कायरता की सम्भावना की जा सकती है। द्विवेदी जी की दृष्टि में ज्योतिष कभी भी मनुष्य को बुरे कार्यों की ओर प्रदत्त नहीं करता अपितु सत्कर्मोकी ओर अग्रसर होने का मार्ग प्रशस्त करता है। सत्कर्मो पर ही धर्म और संस्कृति का प्रासादा खड़ा होता है।

जातिगत भेदभाव, ऊँच–नीच, छुआछूत जैसी भावना के कारण ही मनुष्य में आत्म गौरव की भावना का ह्रास होता जा रहा है। जन साधारण में आत्म गौरव की भावना किसी देश जाति या सम्पूर्ण मानव समाज की एकता के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य भी हैं द्विवेदी जी ने अपने उपन्यासों

में ऐसी अमानवीय भावनाओं का डटकर विरोध किया हैं मानवीयता मानव का धर्म है। अमानवीय भावनाओं से ही घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, लोभ, मोह स्वार्थ जैसे, संकुचित विचारों की उत्पत्ति होती है।

प्रेम एक ऐसी औषधि है जो बिगडे सम्बंधों को सुधारता है। अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड कर दूसरों के लिए उत्सर्ग कर देना ही मानव जीवन की सार्थकता और यही प्रेम का रूप है। निःस्वार्थ भावना से किया गया कार्य ही प्रेम कहलाती है। ''बाणभट्ट की आत्मकथा'' से लेकर 'अनामदास का पोथा' तक सभी उपन्यासों में दूसरों के हित के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर देने की मार्मिक कथाओं का उद्‌घाटन उनके साहित्य में हुआ है। प्रेम का सम्बंध हृदय से होता है। वस्तुतः सौन्दर्य ही आकर्षण को जन्म देता है। जो प्रेम का स्वरूप ग्रहण करता है। सभ्यता और संस्कृति के ऊषा काल से ही नारी और पुरुष का सम्बंध विवादास्पद रहा है। प्रेम ही वह शक्ति है। जो समाज को प्रगति पथ पर ले जा सकता है। वस्तुतः प्रेम एक मानवीय गुण है। द्विवेदी जी के उपन्यासों के पुरुष व नारी–पात्र मानवीयता' की भावना से ओत–प्रोत हैं। विपत्तिकाल में पीड़ित और दुःखी लोगों की सेवा तथा सहानुभूति द्विवेदी जी की दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म और मानवीय गुण है।

द्विवेदी जी की प्रणय भावना लौकिक धरातल से आत्मिक धरातल की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया है। उनके पुरुष पात्र जहाँ पौरूष एवं आस्था के प्रतीक बनकर आये हैं। वही नारी पात्र शक्ति एवं प्रेरणा की स्रोतास्विनी। कहीं पर भी स्वार्थ व सामाजिक लोभ की भावना नहीं है। सर्वत्र त्याग एवं बलिदान की भावना पूर्ण है। ज्ञान देश धर्म और जाति से ऊपर की वस्तु है। ज्ञान के आदान–प्रदान के साथ–साथ ज्योतिष विभिन्न संस्कृतियों के मिलन की आधार भूमि भी तैयार करती हे। इस प्रकार भारतीय समाज और संस्कृति को स्वरूप प्रदान करने में ज्योतिष का योगदान सराहनीय है। सत्य तो यहं है कि जहाँ एक ओर ज्योतिष विभिन्न संस्कृतियों के मिलन की आधार बनी वहीं दूसरी ओर वह किसी संस्कृति को विश्व संस्कृति बनाने में भी सहायक होती है। आचार्य द्विवेदी अपने उपन्यासों के पात्रों के चरित्रात्कर्ष का वातावरण तैयार करने में ज्योतिष का सहारा लेते हुए उसके महत्व को प्रदर्शित करते हैं।

वेदांग होने के साथ–साथ ज्योतिष को वेद की आँख भी कहा गया है। इसीलिए ज्योतिष का प्राचीन नाम देवज्ञ था आधुनिक ज्यामिति, रेखागणित, दशमलव पद्धति जियोलॉजी, मैट्रियालॉजी, कृषि विज्ञान आदि ज्योतिष के विकसित रूप है।

आचार्य द्विवेदी भारतवर्ष को महामानव का समुद्र कहा करते थे। ऐसा समुद्र जिसमें समस्त नदियाँ आकर समाहित हो जाती हैं। पर उसमें किसी प्रकार का उफान नहीं आता। सभी परिस्थितियों में वह समभाव का उद्‌घोषक बन जाता है। ठीक यही स्थिति भारतीय मनीषा की है। आचार्य प्रवर के अनुसार कालान्तर में पता नहीं कितनी संस्कृतियों जातियों, धर्मों, दर्शनों का संघर्ष और अतिक्रमण भारतीय संस्कृति को झेलना पड़ा है। पर सभी अन्ततः भारतीय संस्कृति में तिरोहित हो गयी। भारतीय मनीषा ने अनेक अतिक्रमण आक्रमणों को झेला है, पर उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। जो आया उसे अपने में खपा लिया। हूण आदि मुसलमान आये, अंग्रेज आये, सभी तो यही के होकर रह गये। अतः भारतीय संस्कृति के मूल की खोज अनावश्यक होगी, पर इस सम्मिलन के प्रतिफल से जो संस्कृति निर्मित हुई उसके आदर्शों मूल्यों, गुणों को जानना और उन्हें जीवन में उतारना ही जीवन की सार्थकता होगी। भारतीय संस्कृति अपना जीर्ण–शीर्ण अनुपयोगी छोड़कर दूसरी संस्कृतियों से उपयोगी तत्वों और अच्छाइयों को ग्रहण कर अपने स्वरूप में परिवर्तन करती रही है। यह परिवर्तन अपने शाश्वत और स्थायी मूल्यों के अवमूल्यन पर स्वीकार नहीं हुआ। इसीलिए इस सम्मिलन के उपरान्त भी भारत की अपनी अस्मिता बनी हुई है।

आचार्य द्विवेदी भारतीय मनीषा की इसी संस्कृति जिसमें अन्य संस्कृतियों की अच्छाइयाँ समाहित है, को भारतीय संस्कृति की संज्ञा से अभिहित करते हैं और उसे ही अपनी रचनाओं में उजागर कर वर्तमान के परिमाण का संकल्प दुहराया हैं यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी की संस्कृति भारतीय परिवेश के बाहर जाकर विश्व संस्कृति का पर्याय बन चुकी है। ऐसी ही संस्कृति जो समस्त मानवता के कल्याण एवं उत्थान के लिए कृत संकल्प प्रतीत हो।

द्विवेदी जी बाणभट्ट की आत्मकथा 'चारूचन्द्रलेख', पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' – ऐतिहासिक सांस्कृतिक पौराणिक परिवेश को आधुनिक संन्दर्भ में उपस्थित करते हुए भारतीय चिन्तन धारा और सांस्कृतिक मूल्यों की एक अविछिन्न परम्परा का उद्घोष करते हैं। उपनिषदकाल से लेकर पूर्वमध्यकाल युग तक भारतीय संस्कृति की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक व कलात्मक विकसित होती यात्रा के उत्कर्ष व अपकर्ष की तरफ द्विवेदी जी की दृष्टि जाती है। उनके चारो उपन्यास अपने युगों की संस्कृति को वर्तमान की नवचेतना व नव स्फूर्ति प्रदान करते हुए दिखायी देते हैं।

इसप्रकार द्विवेदी जी का उपन्यास–साहित्य उनकी अक्षय कीर्ति का अजस्र स्रोत हैं इनके उपन्यासों में इतिहास, पुराण, प्राचीन साहित्य, समय, धर्म, संस्कृति सबका ऐसा सवारस्य व्याप्त है जिसमें अभिभूत हुए बिना नहीं रहा जा सकता। ज्ञान के गहन समुद्र के अपार विस्तार और सरस भावुकता से समन्वित कल्पनाशीलता की अछोर उड़ान के साथ ही उनकी अनोखी व्याख्याओं तथा मौलिक उदभावनाओं से विन्यस्त उपन्यासों 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारूचन्द्रलेख', 'पुनर्नवा' और अनामदास का पोथा' के रोचक, मनोरम एवं गम्भीर प्रसंग अनोखे कथा शिल्प के भी विशिष्ट नमूने हैं। इन उपन्यासों के वस्तु की वास्तविकता के बोध के आग्रहवश उन्होंने जैसे नाटकीय प्रसंगों की अवधारणा भूमिका के रूप में की हैं और विशेष रूप में भाषा शैली की जैसी ध्वनि उत्पन्न. करने में वे सफल हुए हैं, उससे सहज ही उनकी विशिष्ट सृजनाशीलता उद्घाटित हुई है द्विवेदी जी उपन्यासों में जहाँ एक तरफ प्राचीन शास्त्रीय, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को अनुस्यूत करने का विलक्षण पांडित्यपूर्ण कलाप इनमें परिलक्षित होता है, तो दूसरी ओर प्रवाहपूर्ण कथाक्रम में गुम्फित अन्तःकथाओं से रोचकता की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती जाती हैं द्विवेदी जी की भाषा–सामर्थ्य एवं शैलीगत सृजनशीलता इस दृष्टि से एक पर एक प्रतिमान गढ़ती गयी है। इनके औपन्यासिक कृतियों की सबसे बड़ी विशेषता है, वस्तु विन्यास का अपूर्वता और इनकी शिल्पगत समृद्धि इसीलिए अलग से आस्वाद्य है। शिल्पगत चातुर्य तथा भाषा शैली की स्पृहणीय सामर्थ्य से वह सम्पन्न ही नहीं है, बल्कि हिन्दी साहित्य की अत्यंत विशिष्ट उपलब्धि भी है।

द्विवेदी जी भाषा के कुशल शिल्पी हैं। इनका साहित्य भाषा प्रयोग की निधि है। जिसमें संस्कृत भाषा के वैभव के साथ लोक जीवन की सरस व्यंजना मिश्रित है। इनके उपन्यास ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक है, जिनमें युगीन रूपों का चित्रण काने के कारण भाषा कुछ वैसे ही रूप में उभरकर सामने आती है। उपन्यासों में दृश्य चित्रों के अपने पर भाषा ठहरकर दृश्यों का आनन्द लेने लगती है।